

आपातकाल के पच्चीसवें वर्ष पर फासिस्ट भाजपा का एक और तोहफा अब टाड़ा से भी खतरनाक 'पोटा' कानून की बारी

यतीन्द्रनाथ दास राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई लड़ते हुए अंग्रेजों की जेल में अनशन के 63वें दिन 13 सितम्बर 1930 को शहीद हो गये थे। 1947 में मिली आजादी के असली चरित्र की एक बानगी यह भी है कि आज उनकी शहादत के 70 वर्ष बाद हिन्दुस्तान के देशी शासक अपनी ही जनता के लिए अंग्रेजों से भी ज्यादा दमनकारी कानून बना रहे हैं।

नमिता

आपातकाल लागू होने के पच्चीस वर्ष बाद सत्ताधारी फासिस्ट भाजपा गठबन्धन द्वारा अब तक का सबसे खतरनाक जनविरोधी आतंकविरोध निरोधक कानून (Prevention of Terrorism Act) 'पोटा' कानून लागू करने की तैयारी की जा चुकी है। तमाम विरोधों और गाढ़ीय मानवाधिकार आयोग तक द्वारा खारिज किये जाने के बावजूद इस संशोधित टाड़ा कानून का लागू होना बस वक्त की बात है। सरकार तमाम विरोध को दरकिनार करके इसे संसद में पेश करने पर आमादा है और वहां विरोध के अब बासी हो चुके नाटक के बाद इसका पारित हो जाना तय है।

निरंकुश, स्वेच्छाचारी भाजपा सरकार की आपातकाल की त्रासदी की पाखंडपूर्ण चर्चा के बीच आतंकवाद से 'निपटने' के नाम पर इस बेहद खतरनाक 'पोटा' कानून लागू करने की मंशा ने एक बार फिर साबित किया है कि असली आतंकवादी तो यह सरकार है। आतंकवाद निरोधक यह कानून ही सबसे बड़ा आतंकवादी है। अर्थतः के लगातार गहराते संकट से उपजे राजनीतिक संकट के परिणामस्वरूप सत्ता के निरंकुश होते जा रहे चरित्र ने एक बार फिर यही प्रमाणित किया है कि आपातकाल के बाद से अधोषित आपातकाल की स्थिति लगातार न केवल बरकरार है बल्कि और खतरनाक रूप में सामने आ रही है।

गौरतलब है कि देश भर में व्यापक जनविरोध के कारण तत्कालीन नरसिंह राव

सरकार को 1995 में 'टाड़ा' कानून वापस लेना पड़ा था। उस वक्त भी भाजपा ने इसे बरकरार रखने की जमकर हिमायत की थी। कांग्रेस ने उस वक्त ही 'क्रिमिनल सेफ्टी बिल' नाम से उसी कानून का नया संस्करण लाने का असफल प्रयास किया था। उसके बाद अलग-अलग राज्यों में प्रयास हुए। तभिलनाहु सरकार ने 'पोटा' नाम का कानून लागू किया तो आंग्रे प्रदेश में भी इसी तर्ज पर कानून लागू करने का प्रयास हुआ। अप्रैल 1999 में 'महाराष्ट्र कंट्रोल ऑफ आर्माइज्ड क्राइम एक्ट' (मोक्का) लागू किया गया।

अब टाड़ा खत्म होने के पांच साल बाद पूंजीवादी इन नये चाकरों ने टाड़ा से भी खतरनाक ऐसा कानून प्रस्तावित किया है जिसमें किसी भी प्रकार के विरोध या असहमति तक को अपराध की संज्ञा दी जा सके। इसमें आपराधिक न्याय प्रणाली में मौजूद बचाव के सभी रस्तों को बंद करने के तमाम प्रावधान किये गये हैं।

प्रस्तावित पोटा कानून के तहत अधियुक्त को बिना किसी आरोप के 30 दिनों तक पुलिस रिमांड पर और छह महीने तक जेल में रखा जा सकता है। जमानत के अधिकार पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। कोर्ट तभी जमानत पर छोड़ सकता है जब उसके पास यह मानने का तर्कसंगत आधार हो कि अधियुक्त दोषी नहीं है। साधारण कानून में यह होता था कि तब तक कोई व्यक्ति निर्दोष माना जाता था जब तक उस पर कोई दोष साबित न हो जाये। लेकिन इस विशेष कानून में पहले दोषी मान लिया जायेगा फिर आरोप साबित किया जायेगा।

खुद को निर्दोष साबित करने की जिम्मेदारी अभियुक्त की होगी। यह सीधे-सीधे नागरिक अधिकारों का हनन ही नहीं बल्कि नागरिक स्वतंत्रता और सम्मान पर सीधी चोट है। इस कानून में अग्रिम जमानत की भी इजाजत नहीं है। इसके पीछे यह तर्क दिया जा रहा है कि इससे तहकीकात में मदद मिलेगी तथा अभियुक्त द्वारा तहकीकात में बाधा डालने की कोशिशों को रोका जा सकेगा।

इस कानून का दूसरा प्रावधान और भी खतरनाक है। इसके तहत पुलिस अफसरों के सामने कबूले गये गुनाह को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। इससे पुलिस को असीमित अधिकार मिल जायेंगे, जिससे उसे हिरासत में ज्यादतियां करने और यातना देकर जबरन गुनाह कबूलवाने की अब और खुली छूट मिल जायेगी।

यदि अपराध स्थल के पास किसी के भी उंगलियों के निशान मिलें या ऐसा प्रतीत हो कि एक व्यक्ति ने ऐसे किसी अपराध को किये जाने में पैसे या किसी अन्य तरीके से मदद की है तो न्यायालय को निर्देश है कि वह ऐसे व्यक्ति को तब तक गुनहगार मानकर चले, जब तक कि वह खुद को बेगुनाह साबित न कर दे।

प्रस्तावित नये कानून के तहत अगर कोई व्यक्ति खून का नमूना, लिखाई का नमूना या उंगलियों के निशान न देना चाहे तो न्यायालय उसे गुनहगार मानेगा और अभियोग पक्ष को किसी तरह के मानकों द्वारा अपना निर्णय साबित करने की बाध्यता नहीं होगी। मृत्युदण्ड तक की सजा वाले अपराधों में भी पुलिस को अपना निर्णय साबित करने के लिए इस बुनियादी मानक तक का पालन करने की जरूरत नहीं है कि दोष किसी "तर्कसंगत शक के बिना सिद्ध है"। अब पुलिस मनमाने ढंग से किसी को भी अपराधी साबित कर सकती है, इसके लिए उसे किसी के भी प्रति जवाबदेह नहीं होना होगा।

इस कानून में अपराध की परिभाषा इतनी व्यापक है कि साधारण कानून व साधारण आपराधिक न्याय प्रणाली के सभी अपराध इसमें भी शामिल हो जाते हैं। यह कानून इतना खतरनाक है कि इसके तहत 'अपराध के इशारे' या 'मंशा' तक के आधार पर 'पोटा' लगाया जा सकता है।

आतंकवाद से ज्यादा बेहतर तरीके से निपटने के नाम पर इस कानून द्वारा लोगों को इस कदर लाचार और मजबूर करने की कुत्सित चाल चली जा रही है। इस कानून में गवाहों को धमकियों और डराये जाने से बचाने की आड़ लेकर जिरह के समय गवाहों की पहचान गुप्त रखी जायेगी। इस कारण से मुकदमा बन्द अदालत में भी चल सकता है।

इसके अलावा पुलिस को छह महीने तक आरोप पत्र दखिल करने की जरूरत नहीं है, सबूत जुटाने का काम भी जरूरी नहीं है। तहकीकात में भी चाक-चौबन्द होने की खास जरूरत नहीं है क्योंकि पहचान गुप्त रखने के प्रावधान के चलते पुलिस को अपने पके-पकाये खरीदे हुए गवाहों का इसेमाल करके झूठे केस गढ़ने की छूट होगी।

जेलों में बन्द कर दिये गये निर्दोष लोगों को स्वतंत्र न्यायपालिका के सामने अपना मामला प्रस्तुत करने के लिए महीनों इन्तजार करना पड़ेगा और साथ ही उच्च न्यायालय में अपील पर भी रोक लगा दी गयी है।

यह कानून हमें चेतावनी दे रहा है कि अब किसी भी प्रकार का विरोध या असहमति नाजायज है। यहां तक कि केन्द्र सरकार की किन्हीं गलत नीतियों के विरोध में पर्चे बांटने, रेली निकालने, भाषण देने या जायज हकों की मांग करने पर भी आतंकवादी सवित किया जा सकता है। कोई वकील किसी प्रतिबंधित संगठन के तथाकथित सदस्यों की पैरवी करेगा तो उसकी भी खेत नहीं। कोई पत्रकार किसी प्रतिबंधित संगठन के नेता का साक्षात्कार लेने पर उसका स्रोत बताने के लिए बाध्य है। यहां तक कि अगर आपने किसी ऐसी गोष्टी में भाग लिया है या महज उपस्थित रहे हैं, जिसमें कोई

एक रिपोर्ट के अनुसार पूरे देश में वर्ष 1999 में 384 लोग पुलिस हिरासत में मारे गये, जबकि सदी के आखिरी दशक में पूरे देश में पुलिस हिरासत में मरने वाले लोगों की तादाद 2441 रही।

गृहमंत्रालय की एक सूचना के अनुसार 30 जून 1994 तक टाडा के तहत गिरफ्तार लोगों की संख्या 76000 तक पहुंच गयी थी। उनमें से 25 प्रतिशत मामले पुलिस ने खुद ही खत्म कर दिये क्योंकि वह उनमें आरोप दखिल नहीं कर पाई। जिन मामलों में मुकदमे चले उनमें से केवल 35 प्रतिशत में फैसला हुआ। इनमें से 95 प्रतिशत मुकदमों में अभियुक्त बरी हो गये। इस तरह अंततः गिरफ्तार हुए कुल लोगों में से केवल 1 प्रतिशत को सजा हुई।

वक्ता कश्मीर में जनमत संग्रह कराये जाने के पक्ष में बोल रहा है, तो सिर्फ उपस्थित होने के कारण आप इस कानून की चपेट में आ जायेंगे।

दरअसल आपातकाल के 25 वर्ष बाद आज शासक वर्ग के लिए गम्भीर खतरा नजर आ रहा है। जनविरोधी आर्थिक नीतियों के कारण समाज में बढ़ती तबाही-बर्बादी ने सत्ताधारियों के लिए गम्भीर राजनीतिक संकट पैदा कर दिया है। पूंजीवादी तंत्र की अंधी लूट में लोगों को मिली हुई नौकरियां भी छिनती जा रही हैं, बेरोजगारों की पूरी फौज खड़ी हो चुकी है। शिक्षा-चिकित्सा जैसी बुनियादी सहूलियतें भी अब अमीरों की बोपती बन चुकी हैं। अमीरी-गरीबी की खाई बेहंता बढ़ती गयी है। पूरा समाज आज एक ज्वालामुखी के मुहाने पर खड़ा है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश के पूंजीवादी सत्ताधारियों को 60 के दशक के उत्तरार्द्ध में पहला झटका उस वक्त लगा था जब वे आर्थिक संकट के पहले दुश्चक्र में फंसे थे। इस आर्थिक संकट ने आगे चलकर गम्भीर राजनीतिक संकट पैदा कर दिया। जगह-जगह छात्रों-नौजवानों, मजदूरों-किसानों के जबर्दस्त आन्दोलन फूट पड़े। कांग्रेस से लोगों का मोह भाग हुआ और कई राज्यों में संविध सरकारें गठित हुईं। '74 का छात्र आन्दोलन और रेलवे की सबसे बड़ी हड़ताल इसकी अगली कड़ी थी। बढ़ता राजनीतिक संकट सर्वेधारिक संकट में तब्दील हो गया जिसकी परिणति आपातकाल के रूप में सामने आयी।

पहला झटका था जिसे वे संभाल नहीं सके थे। उस वक्त तक शासक वर्ग भी एकमत नहीं था और उसका एक बड़ा हिस्सा आपातकाल का विरोधी बन गया था। उसके बाद भारतीय शासक वर्ग ने इससे सीख ली। अब वे और माहिर और कुशल हुए हैं। जनता के दमन के मुद्दे पर भी वे एकमत होते चले गये हैं। उन्होंने सबक निकाला कि बिना आपातकाल लगाये "जनतंत्र" का बाना ओढ़कर, खतरनाक काले कानूनों के माध्यम से जनता के न्यायसंगत आन्दोलनों को कैसे कुचला जाये।

इसके साथ ही बुर्जुआ मीडिया भी काफी परिपक्व हुआ है। पूंजीवादी जनतंत्र का असली चरित्र ज्यादा मुखर होकर सामने आया है। यह अनायास ही नहीं है कि क्षेत्रीय से लेकर राष्ट्रीय अखबारों तक सब एक सुर में जनविरोधी नयी नीतियों का समर्थन कर रहे हैं और सत्ताधारी भाजपा के फासीवाद के पक्षधर बन बैठे हैं।

आज हालत यह है कि किसी भी जुलूस को तितर-बितर करना, लाठी चार्ज, आंसू के गोले छोड़ना सामान्य बात बन चुकी है। पुलिस फायरिंग में बेकसूलोगों की मौत और हड़तालों के दौरान पुलिसिया ताण्डव भी अब समाचार पत्रों की सुर्खियों नहीं बन पा रही हैं। अंग्रेजी फौजें भी स्त्रियों पर दमन करने से हिचकिचाती थीं लेकिन आजाद भारत की पुलिस द्वारा घरों में घुसकर स्त्रियों तक को पीटने-बेइज्जत करने की घटनाएं आम बात बन चुकी हैं। उच्चतम न्यायालय के दिशा निर्देशों और मानवाधिकार आयोग के सुझावों का कोई मायने नहीं रह गया है। अपने दामन को साफ रखने के लिए सत्ताधारियों द्वारा निर्मित जन हित याचिका भी अब महज शगूह बनकर रह गया है। पर्यावरण, पैच फिक्सिंग, हवाला जैसे कुछ मुद्दों पर उच्च मध्यवर्ग के लोगों द्वारा दायर जनहित याचिकाओं पर सुनवाई भले ही हो जाये, नगर सुन्दरीकरण के नाम पर आये दिन उजाड़े जा रहे ढेले-खोमचे वालों से लेकर गरीब जनता की तबाही के

यदि जनता की बात करोगे, तुम गद्दार कहाओगे
बम्ब सम्ब की छोड़ो, भाषण दिया तो पकड़े जाओगे
निकला है कानून नया, चुटकी बजते बंध जाओगे
न्याय, अदालत की मत पूछो, सीधे मुक्ति पाओगे।

- शंकर शैलेन्द्र, 1948

एक बौद्धार्द बर्बर व्यवस्था

पुलिस अधिकारी किसन बेदी ठीक ही मानती हैं कि बावर्दी पुलिसकर्मी राज्य का सबसे दृष्टिगोचर सक्रिय अंग है। अतः किसी विधि संचालित समाज में पुलिस ही राज्य व्यवस्था के चरित्र को सबसे लाखणिक रूप से प्रस्तुत करती है। अगर पुलिस प्रणाली जन-उत्पीड़क है तब राज्य जन-उत्पीड़क है, अगर पुलिस जन-सेवक है तब राज्य व्यवस्था जन-सेवक है। इस तर्क में अगर पुलिस और राज्य को आपस में अदल-बदल दें तब भी निष्कर्ष वही रहते हैं।

आइये हम इस कसौटी पर भारतीय पुलिस के रंग-ढग और तौर-तरीकों की पड़ताल करते हुए मौजूदा विधि व्यवस्था के चरित्र का आकलन करने का प्रयास करें। अभी कुछ वर्षों पहले पंजाब पुलिस के एक पुलिस अधीक्षक ने उन्हीं कानूनी कानूनीयों से डर कर आत्महत्या कर ली थी जिनकी आड़ में तथा जिसकी रक्षा के लिए उन्होंने हजारों लोगों को फर्जी मुठभेड़ों में या यातनाएं देकर मौत के घाट उतार दिया था। इन्हीं अवतार सिंह संधू की आत्महत्या पर पुलिस प्रणाली के 'नायक' कंवरपालसिंह गिल ने शेर उच्चार—“इस नामर्द देश में पैदा मुझे क्यूं कर किया?”

आज उत्तर प्रदेश पुलिस भी कानून की रक्षा के लिए कानूनी प्रावधानों को अपने बूट के नीचे ढाये हुए है। नवम्बर 1999 में मुजफ्फरनगर से अगवा कर लिये गये व्यापारी महेन्द्र प्रकाश मित्तल की रिहाई के लिए पुलिस ने सदिंध अपहर्ता के पुत्र का देहरादून के छावावास से अपहरण कर लिया था जिसका अपराध से कोई नाता नहीं था। पुलिस के इस

कानूनमें की दैनिक जागरण के लघुनक संस्करण (23-11-99) ने भाँड़ी भड़ती के साथ सराहना भी की थी। किन्तु पुलिस का जबरिया जन सहयोग का यह रवैया कई बार काफी दूर तक चला जाता है। मेरठ की छात्रा स्मिता भाउड़ी अपने एक मित्र के साथ एक छोटी यात्रा पर निकली थी। किन्तु पुलिस के जांबाज पहरओं के प्रबल सहयोग से यह अन्तिम यात्रा बन गई। यह मृत्यु एक उल्लेखनीय घटना हो चुकी है किन्तु कई जगह ऐसी 'जनसेवाओं' का कोई उल्लेख नहीं होता है।

अब तक भारतीय पुलिस अपनी अमानवीय संवेदनशून्यता, अपराधों पर अपने नगण्य नियंत्रण और हिरासत में होने वाली मौतों के लिए ही कुख्यात थी। इधर उसकी उपलब्धियों में नकली मुठभेड़ों का एक तुर्ह और जुड़ा था। किन्तु यह नाकारापन समस्त सीमाएं पार करते हुए आपराधिक दुरभिसंघ में बदल गया है। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में एक शीर्ष पुलिस अधिकारी के बेटे से डरी हुई एक लड़की प्रियदर्शनी मट्टू ने पुलिस सहायता की मांग की थी। अतः प्रियदर्शनी को व्यक्तिगत सुरक्षा हेतु पुलिस गारद दी गई। किन्तु अन्ततः प्रियदर्शनी को पुलिस सुरक्षा के बीच ही 23.1.96 को बलात्कार और हत्या का शिकार होना पड़ा। अपराधी था पुलिस के एक ऊंचे अफसर का बेटा। अदालत ने अपने फैसले में कहा कि वह समझती है कि बलात्कार और हत्या अभियुक्त ने की है परंतु पुलिस और सीबीआई ने तफ्तीश ठीक से नहीं की है इसलिए सबूतों के अभाव में उसे छोड़ा जा रहा है।

किन्तु अब हाशिये पर ठेल दिये गये

लोग—गरीब और गंवार लोग—साम्राज्यवादी संस्कृति में पगी पुलिस के प्रति अपनी उकताहट को जाहिर करने लगे हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश के एक स्टेशन—ऑडिहार में पूर्व प्रधानमंत्री के सरकारी तामझाम से खुनस खाये छात्रों ने विशिष्ट सुरक्षा व्यवस्था की बिखिया उधेड़ते हुए उन्हें छिपने पर मजबूर कर दिया। यही नहीं इस आर्थिक रूप से पिछड़े अंचल के सांस्कृतिक और शैक्षणिक रूप से प्रायः पिछड़ जाने वाले छात्रों के आक्रोश की आंच को समूची व्यवस्था ने महसूस किया। बलिया में एक दरोगा ने एक छात्र को 'दुर्घटनावश' मार डाला। इस पर उद्वेलित जनता ने समूचे बलिया जिले को दो-तीन दिनों तक पुलिस से छीन अपने कब्जे में ले लिया था। न केवल सम्बन्धित थाना बल्कि आसपास के कई पुलिस दफ्तर आग के हवाले हो गये। जन-आक्रोश की लपटों ने अन्य सरकारी सम्पत्ति को भी अपनी चपेट में लिया। इस पुलिस उत्पीड़न तथा इसकी स्वयं स्फूर्त तात्कालिक प्रतिक्रिया के बाद सब कुछ सामान्य तो हो गया किन्तु एक प्रश्न अनुत्तरित रह गया—“आखिर पुलिस के रूप में हमारे बीच के लोग ऐसी हैवानी हरकतें क्यों करते हैं?”

दरअसल पुलिस के कार्य-कलाप चाले वे विधि संगत हों या गैरकानूनी हों—वे समाज के सत्ताधारी वर्गों की इच्छा की सामूहिक अभिव्यक्ति होते हैं। अतः आमतौर पर पुलिस का प्रयोग समाज की सामूहिक स्वीकृति—कानून द्वारा संचालित होने के बजाय सत्ताधारी वर्गों की इच्छानुसार समाज को संचालित करने का प्रयास होता है। अतः जब तक समाज और सत्ता की इच्छाओं में समानता होती है तब तक पुलिस का कार्य सुगम होता है। किन्तु मौजूदा दौर में जब समाज और सत्ता के अन्तरविरोधों के साथ-साथ खुद सत्ताधारी वर्गों के अन्तरविरोध भी दिनोंदिन तीखे होते जा रहे हैं उस समय पुलिस बल अत्यन्त तीव्र सामाजिक बलाधारों का शिकार हो रहे हैं। पूर्जीवादी लोकशाही में जन-समर्थन जुटाने तथा बाजार साम्राज्यवाद में थैलीशाहों के लिए सुविधा जुटाने में निहित अन्तरविरोधों का तनाव भी पुलिस बलों को झेलना पड़ता है।

ये सभी निरन्तर बलाधात न केवल पुलिस तंत्र को विवेकहीन कर दे रहे हैं बल्कि नाना शक्ति-संरुलनों की वजह से अकर्मण्य बने पुलिस वालों में जबदस्त व्यक्तित्व के विघटन को और बढ़ावा दे रहे हैं। वस्तुतः यह व्यक्ति विरोधी व्यवस्था है जो पुलिस को कुन्द जहन आत्मकेन्द्रित यंत्र-पशुओं में बदल रही है जो कि अपने आकाओं की प्रशंसा पाने की लालसा में जघन्यतम कानामों को अंजाम दे सकते हैं।

● मुकितबोध मंच, पन्नतनगर

विभाजक रेखा मिट्टी जा रही है, जनवाद की चौहानी सिमटी जा रही है, पूर्जीवादी संसदीय जनवाद का स्वेच्छाचारी चरित्र ज्यादा साफ होता जा रहा है।

आज शासक वर्गों ने अपना रास्ता तय कर लिया है। अब भगतसिंह के वारिसों को भी अपना रास्ता चुन लेना होगा। मैक्सिसको, कोरिया, थाईलैण्ड, इण्डोनेशिया, ईरान के छात्र—नौजवान अपने-अपने देश के निर्कुश सर्वसत्तावादी शासकों की खतरनाक नीतियों के खिलाफ सड़कों पर उतर रहे हैं। भारत के छात्रों—नौजवानों को भी इन जनविरोधी नीतियों के खिलाफ निर्णयिक संघर्ष में उत्तरा ही पड़ेगा। ●